यमुना

गंगा के समान पवित्र और महत्त्वपूर्ण यमुना का नाम जब भी स्मरण हो आता है, तो दिल्ली, आगरा या मथुरा जैसे ऐतिहासिक शहरों का नाम स्वयं जिह्वा पर आ जाता है। नीलवर्ण होते हुए भी यमुना भगवत प्रेमियों के मन को पावन और उज्ज्वल करती है। इसका गौरवमयी इतिहास इसके तटों पर लिखी गई अनेक गाथाओं में संकलित है और इसके तटों पर जो युद्ध हुए वे इसके ऐतिहासिक महत्त्व को बढ़ाते हैं। यह यमुना की कहानी है जो वह स्वयं अपने श्रीमुख से सुना रही है।

उचित तो यह था कि मेरी कहानी भी गंगा ही कहती, जिसकी कुछ लोग मुझे भुजा-मात्र समझते हैं, पर गंगा ने ऐसा इसलिए नहीं किया, क्योंकि मैं गंगा की भुजा-मात्र नहीं हूँ। मैंने अपनी राह स्वयं बनाई है। मेरी धारा किसी धारा से कम पवित्र नहीं है। गंगा, सरस्वती, सिंधु और सतलुज के साथ मेरे नाम की महिमा भी वेदों ने गाई है। मेरे तट पर भी महापुरुषों ने उत्तम कर्म किए हैं। मेरी धारा में भी महात्माओं की चरण-रज मिली हुई है।

अब सुनिए मेरी कहानी। मैं गंगा के पश्चिम में थोड़ी ही दूर हिमालय की यमुनोत्री से निकली हूँ और क़रीब आठ सौ मील चलकर प्रयाग में गंगा में समा गई हूँ। गंगा के साथ एक ओर तथा सतलुज के साथ दूसरी ओर मैंने दोआब बनाया है, जिसकी भूमि में वीरकर्मा जातियाँ बसती आई हैं और इतिहास सदियों से अपनी ईंट जोड़ता आया है। मेरी स्वच्छ नीलधारा कलिंद के पहाड़ों में यमुनोत्री नामक स्थान से निकलकर जहाँ समतल भूमि पर उतरी है, वहाँ की पृथ्वी मुझे पाकर धन्य हो गई है। मैं भारत की प्राचीन और नवीन राजधानी दिल्ली से सटकर बहती हूँ। मेरे ही तट पर कभी तोमर आ खड़े हुए थे और मेरे ही तट पर दस बार दिल्ली बन-बन कर बिगड़ी है और बिगड़-बिगड़ कर बनी है।

पहले जब दिल्ली की नींव पड़ी तब उसके आसपास मेरी धारा से लगा खांडवप्रस्थ का जंगल था। जब दुर्योधन ने पांडवों को हस्तिनापुर छोड़ने के लिए मज़बूर कर दिया, तब उन्होंने मेरे तट पर स्थित घने जंगल साफ करवाए और इंद्रप्रस्थ की नींव डाली, जिसकी छाया में मेरे ही तट पर आज की दिल्ली खड़ी हुई है। पांडवों के बाद फिर मेरा यह तट वीरान हो गया, क्योंकि अर्जुन के धेवते परीक्षित ने फिर हस्तिनापुर को अपनाया और वहाँ गंगा के तीर पर अपने यश का विस्तार करना शुरू किया।

मेरी धारा का जल बहता गया, सदियाँ बीतती गईं और मेरे दोनों तट वैसे ही जंगलों से ढक गए जैसे कभी इंद्रप्रस्थ बनने के पहले ढके थे। तोमरों की दिल्ली कुछ काल पहले बस चुकी थी और उस पर गंगा तट के कन्नौज के प्रतीहारों का राज्य था। उसी समय तोमरों के कमज़ोर हाथों से अजमेर के बीसलदेव ने दिल्ली छीन ली।

अजमेर और साँभर से उठकर चौहान की राजलक्ष्मी मेरे ही तट पर इस दिल्ली में आ बसी और गंगा किनारे के कन्नौज और मेरे किनारे की दिल्ली में शक्ति की होड़ लग गई। पाटलिपुत्र से एक जमाने से जो साम्राज्य की शक्ति कन्नौज में आ बसी थी और एक के बाद एक जो प्रसिद्ध राजकुल वहाँ हुकूमत करने लगे थे, तो सचमुच ही कन्नौज का भारत की राजधानी होने का दावा सही था, पर जैसे उठती जवानी अपने सामने किसी को कुछ नहीं गिनती, वैसे ही दिल्ली ने भी उस चिर प्रतिष्ठित नगरी को संघर्ष के लिए ललकारा। भाग्य से दिल्ली का राजा तब रायपिथौरा था, जिसके दिल में यदि अनंत प्यार था, तो तलवार पकड़ने वाली मुट्ठी में गजब की शक्ति भी थी।

मेरे तट पर बसी दिल्ली की कहानी लंबी है, क्योंकि दस-दस बार उसकी बुनियाद पर बुनियाद रखी गई और मैं उसे देखती रही हूँ। उसकी कहानी कहते थकूँगी नहीं, पर कहनी है मुझे अपनी कहानी, अपने बहाव की कहानी और जो कहना है वह स्वयं कुछ साधारण नहीं है, क्योंकि उसमें मथुरा और उसके कृष्ण की, उनकी गोपियों की और उसके कंस और कुषाणों की कथा है।

इंद्र की मार से जब आर्यों के शत्रु भागे तो मथुरा के पास मेरे ही तट पर उनके पैर टिके। कृष्ण उनके नेता थे। कृष्ण और इंद्र में जो मरणांतक युद्ध हुआ, उसका इशारा ऋग्वेद में किया गया है। कृष्ण ने इंद्र का अंत करके उस मथुरा में अपनी पूजा प्रतिष्ठित की तथा अपना राज्य चलाया। भगवान कृष्ण का महान चरित्र, उनकी क्रीड़ाएँ, विलास और नीति-कथाएँ कुछ अन्य पुराणों के अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीता में तो भरी पड़ी हैं। हिंदू संस्कृति का वह अलबेला नमूना, आनंद और सौंदर्य का वह अनुपम कन्हैया मेरे ही तट पर खेला, मेरे ही तट के जंगलों में उसने गायें चराईं और वहीं उसने बार-बार अपनी कीर्ति-पताका फहराई। कंस के अत्याचार से दुखी मथुरा की जनता को छुड़ाकर कृष्ण ने वहाँ सुख और सज्जनता की धारा बहाई।

एक दिन जब अपने दामाद कंस का बदला लेने के लिए जरासंध मथुरा पर चढ़ आया, तब उसी कृष्ण को मेरा तट छोड़कर दूर द्वारिका चले जाना पड़ा। कृष्ण फिर मथुरा न लौटे, उनकी क्रीड़ा से फिर मेरी लहरों में कंपन नहीं आया। ऊधो आए, पर कन्हैया न आए और गोपियाँ बिलखती रहीं तथा दूत और पाती भेजती रहीं। गोपियों की पुकार और उनकी बेदम कराह आज भी मेरी ठंडी हवा में मिली हुई है। आज भी मुझे उनकी आकुलता अनेक बार व्याकुल कर देती है।

जमाना बीतता गया, राज्य पर राज्य उजड़ते गए और तीनों लोकों से न्यारी मथुरा कृष्ण की याद में बिखरती रही। मेरा चुपके-चुपके रोना किसी ने न देखा। जल की काया लिए जो बह रही है, उसकी आँखों के नीर का महत्त्व ही भला क्या? कुषाणों ने मेरे तट पर यहाँ स्तूप खड़े किए। उन्हें लाज-भरी, राग-भरी, मूर्तियों से घेर दिया, पर कृष्ण की गोपियाँ मेरी रज से फिर न उठीं। मेरी सतह पर कनिष्क के वंशज अपनी नावें लिए अनेक बार थिरके, पर रास की याद भला कैसे भुलाई जा सकती थी। एक दिन ऐसा भी आया जब भारशिव नागों ने मथुरा कुषाणों के हाथों से छीन ली।

जमाने फिर बदल गए, कितने राजवंश आए और गए, मैं इन्हें शांतचित्त देखती एवं बहती रही। बीते काल में कृष्ण के भक्तों ने नए राग गाए। मीरा और सूर के पद मेरे कानों में आज भी भरे हुए हैं। सूर के उन पदों-सा मधुर कुछ भी नहीं!

मथुरा से लगभग 55 किमी आगे विश्व के सात आश्चर्यों में से एक ताजमहल का नगर आगरा है, जिसे मुगल बादशाहों ने बसाया और जहाँ रहकर वर्षों तक हिंदुस्तान पर राज किया। ताजमहल सफेद संगमरमर का बना मेरे ही तट पर जगमगाते हीरे-सा खड़ा है। जिसे देखने दुनिया भर के पर्यटक बहुत बड़ी संख्या में यहाँ आते हैं। यह शाहजहाँ की पत्नी मुमताजमहल के लिए उसके प्रेम का प्रतीक है। कुछ दूर आगे जाने पर कौशांबी है। कौशांबी तो मिट चुकी है, परंतु उसके खंडहर मात्र मेरे तट पर खड़े मुझे और पास से निकलने वाले पथिकों को पुरानी कथा की यदा दिलाते हैं। आगरा-मथुरा की रौनक और उसके भाव-विलास किसी नगरी को मिले तो बस कौशांबी को। कौशांबी की याद से मन पुलक उठता है, रोम-रोम में स्वेद उतर आता है, क्योंकि वह उदयन की नगरी थी और ऐसा लगा था कि जैसे कृष्ण ने ही उदयन के रूप में फिर से मेरे तट पर जन्म ले लिया हो।

कौशांबी का राजकुल वत्सों का था और वत्सों की सत्ता कभी पश्चिम के पांचालों के देश में प्रयाग और काशी तक फैली हुई थी। जब जनमेजय और उसके पुरखों के हस्तिनापुर को गंगा की लहरों ने निगल लिया, तब पांडवों का वंशज निचक्षु पूर्व की ओर बढ़ा और उसने यहीं मेरे रम्य तट पर अपना डेरा डाला। कौशांबी उसी ने बनाई और देश की राजधानी इसी कौशांबी में स्थापित की। पीढ़ियों बाद उसके कुल में वह विलासी हुआ, जिसने प्रेम के साहित्य में अपना साका चलाया। जिसके प्यार की कहानियाँ मूर्तियों और चित्रों में उतरीं और रूप धारण कर घर-घर मिट्टी के खिलौनों में बसीं। उस उदयन के विलास को मैंने अभितृप्त नयनों से निहारा। आज भी उसकी तंत्री 'घोषा' के स्वर मेरे कानों में भरे हुए हैं। आज भी मेरे जंगलों में हाथी पकड़ने वाले उस उदयन की 'हस्तिकांत' बीणा मानो हाथियों को आकर्षित करने के लिए जब-तब बज उठती है और मेरे आकुल कान देर तक उस अमृत-स्वर की आस में खुले पड़े रहते हैं।

कितनी ही बार अवंती का चंडप्रद्योत इस नगरी पर चढ़ आया था। एक बार तो मेरी ही सीमा के जंगलों में उसने उदयन को हाथी के धोखे से पकड़ भी लिया, पर उदयन ने भी वही किया, जिसकी याद कौशांबी की रज का उल्लास है। चंडप्रद्योत की बेटी वासवदत्ता उस पर रीझ गई। उसके पिता ने उदयन को उसे वीणा सिखाने को नियत किया और एक दिन दोनों हाथी पर सवार वनों को चीरते हुए मेरे तट पर अपनी कौशांबी में आ पहुँचे। अब कौशांबी का सुहाग लौट आया।

बुद्ध ने कितनी ही बार कौशांबी को अपने चरणों से पवित्र किया था। उसकी हवा की साँस में अपने उपदेश भरे थे। उदयन का बेटा बोधी बुद्ध का परम भक्त था। आज भी घोषिताराम बिहार की नींव में वह शांति समाई हुई है, जिसे बुद्ध ने दोनों हाथों से वहाँ लुटाया था। दिल्ली और मथुरा आज

भी हैं, पर वत्सों की शक्ति की नींव और उदयन की सँवारी हुई विलासिनी कौशांबी न रही। उसके खंडहर और परकोटे अपनी ईंट-ईंट में इतिहास भरे और कण-कण में सदियों के भेद छिपाए, मेरे ही तट पर दूर तक फैलते चले गए।

इसी कौशांबी के पास नाग राजाओं ने मिलकर एक बार समुद्रगुप्त के घोड़ों की बाग रोकनी चाही थी और तब जो युद्ध हुआ था, उससे मेरी धारा लहू से लाल हो उठी थी। मेरे ही तट पर कौशांबी के आँचल में कभी अशोक ने अपनी शांति के स्तंभ खड़े किए थे। उनमें से एक आज भी वहाँ खड़ा है, पर दूसरा वहाँ से उठकर प्रयाग चला गया है और उस पर अशोक के शांति-संदेश के नीचे समुद्रगुप्त के रक्त-भरे कारनामे अंकित हैं।

मेरे ही तट पर राजापुर है जो 'रामचरितमानस' लिखने वाले तुलसीदास के स्पर्श से कभी पावन हुआ था। उन्होंने वहीं अपनी 'रामचरितमानस' के पन्ने लिखने शुरू किए थे। अब उस राजापुर के तट की मिट्टी मेरी धारा से खोखली हो चली है, पर उसे बचाने में किसी का वश नहीं चलता, स्वयं मेरा भी नहीं। मुझ अनायास बहने वाली, ढलाव पर लुढ़क पड़ने वाली नदी का सचमुच वश ही क्या है?

आगे प्रयाग है, जो मेरे विलय की और अंत की भूमि है। क़रीब आठ सौ मील चलकर मैं वहीं अपना आपा खो देती हूँ और गंगा की श्वेत धारा से मेरी स्वच्छ नील धारा जा मिलती है। अनेक बार साहित्य में इन दोनों नील-श्वेत धाराओं के परस्पर गुँथे होने की बात कही गई है। बार-बार कवियों ने इस सौंदर्य के गीत गाए हैं और बार-बार उनके बखान से मैं पुलक उठती हूँ।

मैं सदा के लिए आगे को बह चलने वाली गंगा की धारा में समा जाती हूँ। मेरा निर्मल जल अपना रूप सहसा खो देता है। मैं युग-युग की लाई विभूति, महात्माओं की बहाकर लाई मिट्टी आदि सभी को गंगा की धारा में विसर्जित कर देती हूँ। सदियों का इतिहास मेरी लहरों में छिपा है और मेरी लहरें वह इतिहास लिए गंगा की लहरों में जा छिपती हैं।

–भगवतशरण उपाध्याय